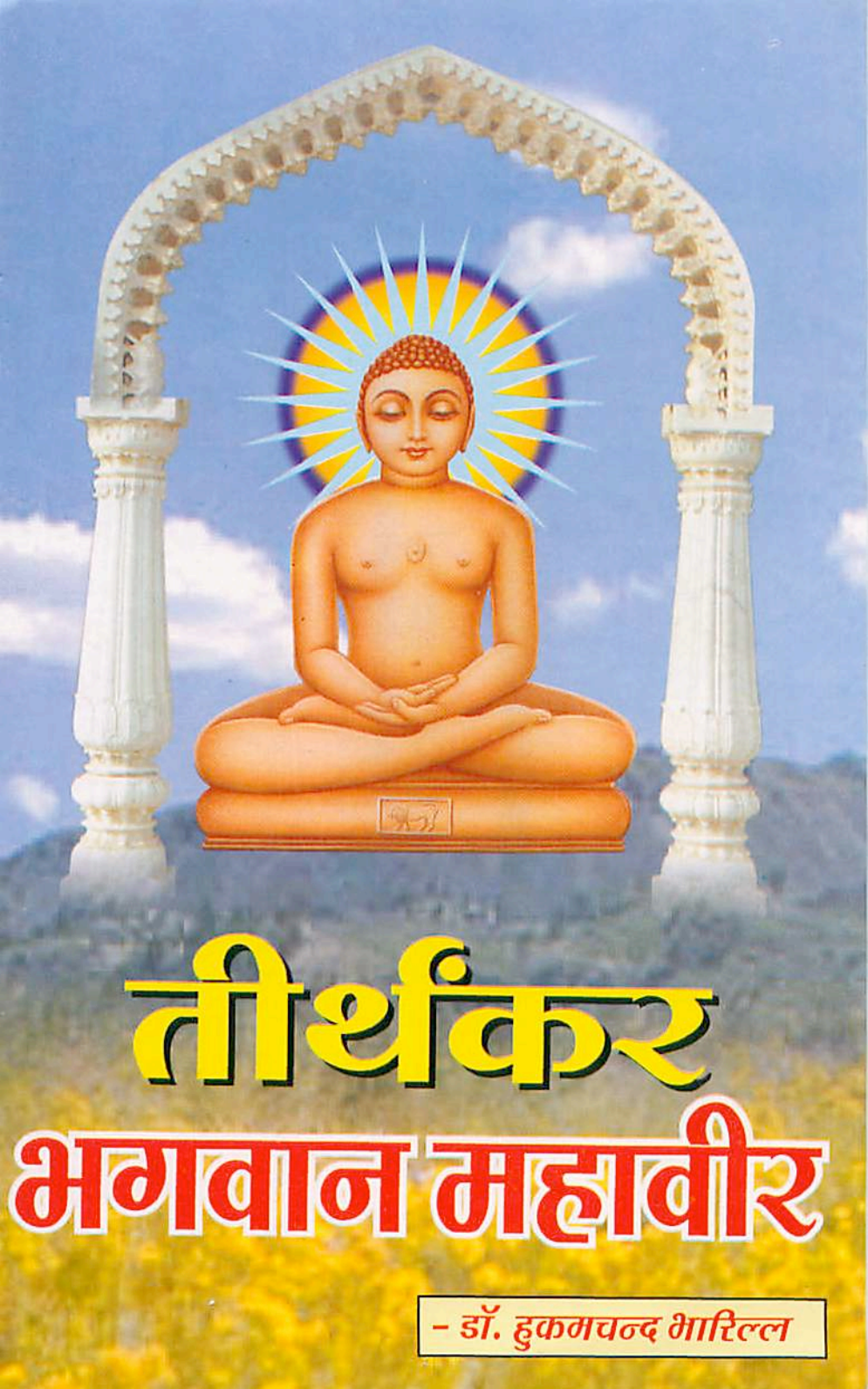

तीर्थंकर भगवान महावीर

- डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

तीर्थंकर भगवान महावीर

लेखक :
डॉ॰ हुकमचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम॰ ए॰, पीएच॰ डी॰

प्रकाशक :
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए–४, बापूनगर, जयपुर–३०२०१५
फोन : 0141 – 515581, 515458

हिन्दी :

प्रथम चौदह संस्करण (फरवरी 1973 से अद्यतन)	:	1 लाख 11 हजार 400
पन्द्रहवाँ संस्करण (5 जून, 2003)	:	3 हजार
योग	:	1 लाख 14 हजार 400
अंग्रेजी	:	23 हजार 400
तेलगू	:	50 हजार
गुजराती	:	4 हजार
मराठी	:	8 हजार
असमी	:	5 हजार
कन्नड़	:	2 हजार
तमिल	:	2 हजार
महायोग	:	2 लाख 8 हजार 600

मूल्य : दो रुपये पचास पैसे

मुद्रक :
जयपुर प्रिंटर्स प्रा. लि.
एम.आई. रोड
जयपुर

प्रकाशकीय

(पन्द्रहवाँ संस्करण)

'तीर्थंकर भगवान महावीर' का यह पन्द्रहवाँ संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन भगवान महावीर के 2500वें निर्वाण वर्ष में किया गया था। तब से अबतक इसकी 2 लाख 5 हजार 600 प्रतियाँ देश की विभिन्न भाषाओं में छपकर समाज तक पहुँच चुकी है। हिन्दी में 1 लाख 11 हजार 400 प्रतियाँ चौदह संस्करणों के माध्यम से बिक चुकी हैं।

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट का तो रचनात्मक कार्यों में ही विश्वास है। हमारी हार्दिक भावना है कि भगवान महावीर के जीवन एवं दर्शन से सम्बन्धित सत्साहित्य अल्प मूल्य में देश के कौने-कौने में पहुँचे तथा हर घर में इसका पठन-पाठन हो। इसी उद्देश्य से इस पुस्तिका का यह संस्करण नई साज-सज्जा के साथ आपके हाथों में है। इसके प्रकाशन के पूर्व इसके लेखक डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने इसको पुनः आद्योपांत पढ़ा है और आवश्यक संशोधन कर इसे परिमार्जित रूप प्रदान किया है।

पुस्तक के लेखन हेतु डॉ. भारिल्लजी का जितना उपकार माना जाए कम है। उन्होंने अत्यन्त सरल व सरस शैली में अबतक 53 कृतियों का सृजन कर उसे सस्ती दरों पर सामान्यजन को उपलब्ध कराया है। वे दीर्घजीवी हों तथा लेखन व प्रवचनों के माध्यम से समाज को दिशा देते रहें – ऐसी कामना है।

इस कृति को अल्पमूल्य में पहुँचाने का श्रेय उन दातारों को है, जिन्होंने कीमत कम करने में अपना आर्थिक सहयोग प्रदान किया है। दातारों की सूची पृथक् से प्रकाशित है। सभी दातारों का हम हृदय से आभार मानते हैं। साथ ही प्रकाशन विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल को भी धन्यवाद देना चाहेंगे, जिन्होंने प्रकाशन का दायित्व बखूबी निभाया है।

आप सभी इस पुस्तिका के माध्यम से भगवान महावीर के जीवन एवं दर्शन का अन्वेषण कर उनके बताए हुए मार्ग पर चलकर अनन्त सुख प्राप्त करें – ऐसी पवित्र भावना है।

- ब्र. यशपाल जैन

प्रकाशन मंत्री

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

1.	श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	251.00
2.	श्री बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल	251.00
3.	श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध.प. श्री पूनमचन्दजी छावड़ा, इन्दौर	251.00
4.	ब्र. कुसुम जैन, कुम्भोज बाहुबली	251.00
5.	श्रीमती रश्मिदेवी वीरेशजी कासलीवाल, सूरत	251.00
6.	श्रीमती सुलोचना बाई बड़जात्या, इन्दौर	251.00
7.	चौधरी फूलचन्दजी जैन, मुम्बई	111.00
8.	श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गौहाटी	101.00
9.	श्रीमती गुलाबीदेवी लक्ष्मीनारायणजी रारा, शिवसागर	101.00
10.	श्रीमती सोहनदेवी स्व. तनसुखलालजी पाटनी, जयपुर	101.00
11.	स्व. धापूदेवी ध.प. स्व. ताराचन्दजी गंगवाल की पुण्य स्मृति में, जयपुर	101.00
12.	प्रिय बड़जात्या, इन्दौर	101.00
13.	श्री कोमलचन्दजी जैन, बड़नगर	101.00
14.	श्रीमती कान्ताबाई रतनलालजी वैद्य, इन्दौर	101.00
15.	श्रीमती मिश्रीबाई पं. चुन्नीलालजी जैन, इन्दौर	101.00
16.	श्रीमती प्रेमलता जैन, इन्दौर	101.00
17.	श्रीमती अलका जैन, इन्दौर	101.00
18.	श्रीमती राजुलबाई बाबूलालजी जैन, धार	101.00
	कुल राशि	**2728.00**

तीर्थंकर भगवान महावीर

भगवान महावीर का जीवन अब पुराणों की गाथा मात्र नहीं रहा, उन्हें अब इतिहासकारों ने ऐतिहासिक महापुरुष के रूप में स्वीकार कर लिया है। महात्मा गांधी ने उन्हें "अहिंसा के अवतार" के रूप में याद किया है।

जैन मान्यतानुसार भगवान अनन्त होते हैं। प्रत्येक आत्मा भगवान बन सकता है, पर तीर्थंकर एक युग में व एक क्षेत्र में चौबीस ही होते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर, भगवान तो नियम से होते हैं; पर प्रत्येक भगवान, तीर्थंकर नहीं। तीर्थंकर हुए बिना भी भगवान हो सकते हैं। जिससे संसार-सागर तिरा जाय उसे तीर्थ कहते हैं और जो ऐसे तीर्थ को करे अर्थात् संसार-सागर से पार उतरने का मार्ग बतावे, उसे तीर्थंकर कहते हैं।

तीर्थंकर भगवान महावीर भरतक्षेत्र व इस युग के चौबीसवें एवं अन्तिम तीर्थंकर थे। उनसे पूर्व ऋषभदेव आदि २३ तीर्थंकर और हो चुके थे। वे जैनधर्म के संस्थापक नहीं, वरन् एक प्रबल प्रचारक थे।

जैनधर्म कोई मत या सम्प्रदाय नहीं है, वह तो वस्तु का स्वरूप है; वह एक तथ्य है, परम सत्य है। उस परम सत्य को प्राप्त कर नर से नारायण बना जा सकता है।

भगवान महावीर का जीवन अहिंसा के आधार पर मानव जीवन के चरम विकास की कहानी है। क्षत्रिय राजकुमार होने पर भी उन्होंने कभी विश्व-विजय के स्वप्न नहीं देखे। बाहरी

आयुधों से दूसरों को जीतने में उन्हें जीत दिखाई नहीं दी। उनका विचार था कि अपने अन्तर में उठने वाली मोह-राग-द्वेष की वृत्तियों को जीतना ही सच्ची जीत है।

अतः उन्होंने अन्तरोन्मुखी वृत्ति द्वारा मोह-राग-द्वेष का अभाव कर ज्ञान का पूर्ण विकास करना ही अपना लक्ष्य बनाया और उस दिशा में अपूर्व पुरुषार्थ भी किया। फलतः वे पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ बने तथा भगवान कहे जाने लगे।

जो वीतरागी और सर्वज्ञ हो वही भगवान है। बिना पूर्ण ज्ञान प्राप्त किए और वीतरागी बने कोई भगवान नहीं हो सकता।

जैन मान्यतानुसार भगवान जन्मते नहीं, बनते हैं। जन्म से कोई भगवान नहीं होता। महावीर भी जन्म से भगवान न थे। जन्म के समय तो वे हम और आप जैसे मानव ही थे। भगवान तो वे बाद में बने, जब उन्होंने अपने को जीता। मोह-राग-द्वेष को जीतना ही अपने को जीतना है।

उन्होंने स्वयं कहा है – अपने को जीत लिया तो जग जीत लिया और अपने को जान लिया तो जग जान लिया।

भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त जितने गूढ़, गंभीर व ग्राह्य हैं; उनका जीवन उतना ही सादा, सरल एवं सपाट है; उसमें विविधताओं को कोई स्थान प्राप्त नहीं।

उनकी जीवन-गाथा मात्र इतनी ही है कि वे आरंभ के तीस वर्ष वैभव और विलास के बीच जल से भिन्न कमलवत् रहे। बीच के बारह वर्ष जंगल में परम मंगल की साधना में एकान्त आत्म-आराधना-रत रहे और अन्तिम ३० वर्ष प्राणिमात्र के कल्याण के लिए सर्वोदय तीर्थ का प्रवर्तन, प्रचार व प्रसार करते रहे।

महावीर का जन्म वैशाली गणतन्त्र के प्रसिद्ध राजनेता राजा

सिद्धार्थ की रानी त्रिशला के उदर से कुण्डग्राम में हुआ था। उनकी माँ वैशाली गणतन्त्र के अध्यक्ष राजा चेटक की पुत्री थीं। वे आज से २६०० वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन नाथवंशीय क्षत्रिय कुल में जन्मे थे।

महावीर का नाम उनके माता-पिता ने उनको नित्य वृद्धिंगत होते देख वर्द्धमान रखा।

उनके जन्म का उत्सव उनके माता-पिता व परिजन-पुरजनों ने तो बहुत उल्लास के साथ मनाया ही था, साथ ही भावी तीर्थंकर होने से इन्द्रों और देवों ने भी आकर महान् उत्सव किया था, जिसे जन्मकल्याणोत्सव कहते हैं। इन्द्र उन्हें ऐरावत हाथी पर बैठाकर सुमेरु पर्वत पर ले गये और वहाँ पाण्डुकशिला पर बड़े ही ठाटबाट से उनका जन्माभिषेक किया, जिसका विस्तृत विवरण जैन पुराणों में उपलब्ध है।

बालक वर्द्धमान जन्म से ही स्वस्थ, सुन्दर एवं आकर्षक व्यक्तित्व वाले बालक थे। वे दोज के चन्द्र की भांति नित्य वृद्धिंगत होते हुए अपने वर्द्धमान नाम को सार्थक करने लगे।

उनकी कंचनवर्णी काया अपनी कांति से सबको आकर्षित करती थी। उनके रूप-सौंदर्य का पान करने के लिए सुरपति इन्द्र ने हजार नेत्र बनाए थे।

वे आत्मज्ञानी, विचारवान्, विवेकी और निर्भीक बालक थे। डरना तो उन्होंने सीखा ही न था। वे साहस के पुतले थे। अतः उन्हें बचपन से ही वीर, अतिवीर कहा जाने लगा था। आत्मज्ञानी होने से उन्हें सन्मति भी कहा जाता था। उनके पांच नाम प्रसिद्ध हैं – वीर, अतिवीर, सन्मति, वर्द्धमान और महावीर।

वे प्रत्युत्पन्नमति थे और विपत्तियों में अपना सन्तुलन नहीं

खोते थे। एक दिन अपनी बाल-सुलभ क्रीड़ाओं से माता-पिता, परिजनों और पुरजनों को आनन्द देने वाले बालक वर्द्धमान अन्य राजकुमारों के साथ क्रीड़ावन में खेल रहे थे। खेल ही खेल में अन्य बालकों के साथ वर्द्धमान भी एक वृक्ष पर चढ़ गए।

इतने में ही एक भयंकर काला सर्प आकर वृक्ष से लिपट गया और क्रोधावेश में वीरों को भी कम्पित कर देने वाली फुंकार करने लगा। विषम स्थिति में अपने को पाकर अन्य बालक तो भय से कांपने लगे पर धीर-वीर बालक वर्द्धमान को वह भयंकर नागराज विचलित न कर सका।

महावीर को अपनी ओर निर्भय और निःशंक आता देख वह नागराज निर्मद होकर स्वयं अपने रास्ते चलता बना।

इसीप्रकार एक बार एक हाथी मदोन्मत्त हो गया और गजशाला के स्तम्भ को तोड़कर नगर में विप्लव मचाने लगा। सारे नगर में खलबली मच गई। सभी लोग घबड़ा कर यहाँ-वहाँ भागने लगे, पर राजकुमार वर्द्धमान ने अपना धैर्य नहीं खोया तथा शक्ति और युक्ति से शीघ्र ही गजराज पर काबू पा लिया। राजकुमार वर्द्धमान की वीरता व धैर्य की चर्चा नगर में सर्वत्र होने लगी।

वे प्रतिभासम्पन्न राजकुमार थे। बड़ी से बड़ी समस्याओं का समाधान चुटकियों में कर दिया करते थे।

वे शान्त-प्रकृति के तो थे ही, युवावस्था में प्रवेश करते ही उनकी गम्भीरता और बढ़ गई। वे अत्यन्त एकान्तप्रिय हो गये। वे निरन्तर चिन्तवन में ही लगे रहते थे और गूढ़ तत्त्वचर्चाएँ किया करते थे। तत्त्व सम्बन्धी बड़ी से बड़ी शंकाएँ तत्त्वजिज्ञासु उनसे करते और वे बातों ही बातों में उनका समाधान कर देते थे।

बहुत-सी शंकाओं का समाधान तो उनकी सौम्य आकृति ही

कर देती थी। बड़े-बड़े ऋषिगणों की शंकाएँ भी उनके दर्शन मात्र से शांत हो जाती थीं। वे शंकाओं का समाधान नहीं करते थे, वरन् स्वयं समाधान थे।

एक दिन वे राजमहल की चौथी मंजिल पर एकान्त में विचार-मग्न बैठे थे। उनके बाल-साथी उनसे मिलने को आए और माँ त्रिशला से पूछने लगे—"वर्द्धमान कहां है ?"

गृहकार्य में संलग्न माँ ने सहज ही कह दिया—"ऊपर"

सब बालक ऊपर को दौड़े और हाँफते हुए सातवीं मंजिल पर पहुँचे, पर वहां वर्द्धमान को न पाया। जब उन्होंने स्वाध्याय में संलग्न राजा सिद्धार्थ से वर्द्धमान के सम्बन्ध में पूछा तो उन्होंने बिना गर्दन उठाये ही कह दिया—"नीचे"।

माँ और पिता के परस्पर विरुद्ध कथनों को सुनकर बालक असमंजस में पड़ गए। अन्ततः उन्होंने एक-एक मंजिल खोजना आरम्भ किया और चौथी मंजिल पर वर्द्धमान को विचारमग्न बैठे पाया।

सब साथियों ने उलाहने के स्वर में कहा—"तुम यहां छिपे-छिपे दार्शनिकों की सी मुद्रा में बैठे हो और हमने सातों मंजिलें छान डालीं"।

"माँ से क्यों नहीं पूछा ?" वर्द्धमान ने सहज प्रश्न किया।

साथी बोले, "पूछने से ही तो सब कुछ गड़बड़ हुआ। माँ कहती हैं — 'ऊपर' और पिताजी, 'नीचे'। कहां खोजें ? कौन सत्य है ?"

वर्द्धमान ने कहा — "दोनों सत्य हैं। मैं चौथी मंजिल पर होने से माँ की अपेक्षा 'ऊपर' और पिताजी की अपेक्षा 'नीचे' हूँ; क्योंकि माँ पहली मंजिल और पिताजी सातवीं मंजिल पर हैं। इतना भी

नहीं समझते ? ऊपर-नीचे की स्थिति सापेक्ष है। बिना अपेक्षा ऊपर-नीचे का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तु की स्थिति, पर से निरपेक्ष होने पर भी उसका कथन सापेक्ष होता है। प्रतिपादन की इसी शैली को ही तो स्याद्वाद कहते हैं। स्याद्वाद एक ऐसी शैली है, जिसमें कहीं किसी को कोई विरोध नहीं आ सकता। यह सर्व समाधानकारक एवं सर्व समन्वयसंयुक्त वाणी है।"

इसप्रकार बालक वर्द्धमान स्याद्वाद जैसे गहन सिद्धान्तों को बालकों को भी सहज समझा देते थे।

वे बड़े धीर-वीर क्षत्रिय युवक थे। वे चाहते तो राजा बन सकते थे। प्रजा को सता कर अपना राजकोष भर सकते थे और उसके बल पर एक बड़ी भारी सेना रख कर बहुत से हरे-भरे देशों को उजाड़ बना कर महाराजा भी बन सकते थे। पर यह सब-कुछ उन्हें इष्ट न था।

जिसे हम सम्पत्ति मानते हैं, वह उन्हें विपत्ति प्रतीत हुई; राज्य-सुख बंधन लगा। मानवता के उत्पीड़न में आनन्द की कल्पना वे न कर सके। वे तो शाश्वत अतीन्द्रिय आनन्द की खोज में थे और वह आनन्द बाहर से नहीं, अपने अंतर में प्राप्त होने वाली वस्तु है; अतः उनकी वृत्तियाँ अन्तरोन्मुखी हो गईं।

उस युग में बाह्य वातावरण हिंसा से व्याप्त था। धर्म के नाम पर भी हिंसा ताण्डव-नृत्य कर रही थी। यज्ञों में पशुओं की बलि तो साधारण बात हो गई थी, नरमेघ यज्ञ तक होने लगे थे। धर्म के ठेकेदार स्वर्ग में भेजने के बहाने धर्म के नाम पर निरीह पशुओं और असहाय मानवों को होमने लगे थे।

अहिंसा के अवतार महावीर का अपने को उक्त वातावरण में खपा पाना सम्भव न था। वे सबको सन्मार्ग दिखाना चाहते थे;

किन्तु दूसरों को समझाने के पूर्व वे अपने ज्ञान का पूर्ण विकास कर लेना चाहते थे। बाह्य हिंसा से जगत् को रोकने के पहले वे अपने अन्तर में विद्यमान राग-द्वेष रूप भावहिंसा को पूर्ण समाप्त कर देना चाहते थे। अतः उन्होंने गृह त्याग कर सन्यास लेने का विचार किया।

वे महावीर तो बनना चाहते थे; पर हिंसा, अत्याचार, परपीड़न, संहार और क्रूरता के नहीं; वरन् अहिंसा और शांति के महावीर बनना चाहते थे।

दुनियाँ ने उन्हें अपने रंग में रंगना चाहा; पर आत्मा के रंग में सर्वांग सराबोर महावीर पर दुनियाँ का रंग न चढ़ा। यौवन ने अपने प्रलोभनों के पासे फैंके; किन्तु उसके भी दांव खाली गये। माता-पिता की ममता ने उन्हें रोकना चाहा; पर माँ के आंसुओं की बाढ़ भी उन्हें बहा न सकी।

उनके रूप-सौन्दर्य एवं बल-विक्रम से प्रभावित हो अनेक राजागण अपनी अप्सराओं के सौन्दर्य को लज्जित कर देने वाली कन्याओं की शादी उनसे करने के प्रस्ताव लेकर आए; पर अनेक राजकन्याओं के हृदय में वास करने वाले महावीर का मन उन कन्याओं में न था। माता-पिता ने भी उनसे शादी करने का बहुत आग्रह किया, पर वे तो इन्द्रिय निग्रह का निश्चय कर चुके थे।

चारों ओर से उन्हें गृहस्थी के बन्धन में बांधने के अनेक यत्न किये गए, पर वे अबन्ध-स्वभावी आत्मा का आश्रय लेकर संसार के सर्व बन्धनों से मुक्त होने का निश्चय कर चुके थे। जो मोह-बन्धन तोड़ चुका हो उसे कौन बांध सकता था ?

परिणामस्वरूप तीस वर्षीय भरे यौवन में उन्होंने घर-बार छोड़ा। नग्न दिगम्बर हो निर्जन वन में आत्मसाधना-रत हो गए।

वे मौन रहते थे, किसी से बातचीत नहीं करते थे। कंटकाकीर्ण भूमि ही उनकी शय्या थी और नीला आकाश ही चादर। भुजा का तकिया बना कर रात्रि के पिछले पहर में वे एक करवट मुश्किल से घड़ी-दोघड़ी निद्रा लेते थे। निरन्तर आत्मचिन्तन में ही लगे रहते थे। यहाँ तक कि स्नान और दन्तधोवन के विकल्प से भी परे थे। शत्रु और मित्र में समभाव रखने वाले महावीर गिरि-कन्दराओं में वास करते थे। शीत, ग्रीष्म, वर्षादि ऋतुओं के प्रचण्ड वेग से वे तनिक भी विचलित न होते थे।

उनकी सौम्य मूर्ति, स्वाभाविक सरलता, अहिंसामय जीवन एवं शांत स्वभाव का प्रभाव वन्यपशुओं पर भी पड़ता था और वे स्वभावगत वैर-विरोध छोड़ साम्यभाव धारण करते थे। अहि-नकुल तथा गाय और शेर एक घाट पानी पीते थे। जहाँ वे ठहरते, वातावरण शान्तिमय हो जाता था।

कभी कदाचित् भोजन का विकल्प उठता तो अनेक अटपटी प्रतिज्ञाएँ लेकर वे भोजन के लिए समीपस्थ नगर की ओर आते। यदि कोई श्रावक उनकी प्रतिज्ञाओं के अनुरूप शुद्ध सात्विक आहार नवधा भक्ति-पूर्वक देता तो अत्यन्त सावधानीपूर्वक खड़े-खड़े निरीह भाव से रूखा-सूखा आहार ग्रहण कर शीघ्र वन को वापिस चले जाते थे। मुनिराज महावीर का आहार एक बार अति विपन्नावस्था को प्राप्त सती चंदनबाला के हाथ से भी हुआ था।

इसप्रकार अन्तर्बाह्य घोर तपश्चरण करते बारह वर्ष बीत गए। बयालीस वर्ष की अवस्था में आत्म-निमग्नता की दशा में उन्होंने अन्तर में विद्यमान सूक्ष्म राग का भी अभाव कर पूर्ण वीतराग दशा प्राप्त करली। पूर्ण वीतरागता प्राप्त होते ही उन्हें परिपूर्ण ज्ञान की भी प्राप्ति हुई। मोह-राग-द्वेष रूपी शत्रुओं को पूर्णतया

जीत लेने से वे सच्चे महावीर बने। पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ होने से वे भगवान कहलाए। उसी समय तीर्थंकर नामक महापुण्योदय से उन्हें तीर्थंकर पदवी प्राप्त हुई और वे तीर्थंकर भगवान महावीर के रूप में विश्रुत हुए।

उसके बाद उनका तत्त्वोपदेश होने लगा। उनकी धर्मसभा को 'समवशरण' कहा जाता है। उसमें प्रत्येक प्राणी को जाने का अधिकार प्राप्त था। छोटे-बड़े का कोई भेद नहीं था। जाति-पांति को कोई स्थान प्राप्त न था। भगवान महावीर ने जातिगत श्रेष्ठता को कभी महत्व नहीं दिया। उनके अनुसार श्रेष्ठत्व का मापदण्ड मानव के आचार और विचार हैं।

आचार शुद्धि के लिए अहिंसा और विचार शुद्धि के लिए अनेकान्तात्मक दृष्टिकोण आवश्यक हैं। जिसका आचार अहिंसक है, जिसने विचार में वस्तु-तत्त्व को स्पर्श किया है तथा जो अपने में उतर चुका है; चाहे वह चांडाल ही क्यों न हो, वह मानव ही नहीं, देव से भी बढ़कर है। कहा भी है –

(अनुष्टुप्)

सम्यग्दर्शन सम्पन्नमपि मातंग देहजम्।
देवादेवं विदुर्भस्म, गूढ़ांगारान्तरौजसम्।।[१]

जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन से सम्पन्न है; वह व्यक्ति भले ही मांतग जैसे हीनकुल में पैदा हुआ हो; फिर भस्म की भीतर छुपी हुई अग्नि के समान देवों का भी देव है।

उनकी धर्मसभा में राजा-रंक, गरीब-अमीर, गोरे-काले सब मानव एक साथ बैठकर धर्म श्रवण करते थे। यहाँ तक कि उसमें

---

१. आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक २८

मानवों-देवों के साथ-साथ पशुओं के बैठने की भी व्यवस्था थी और बहुत से पशुगण भी शान्तिपूर्वक धर्म श्रवण करते थे।

सर्वप्राणी-समभाव जैसा महावीर की धर्मसभा में प्राप्त था; वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। महावीर के धर्मशासन में महिलाओं को सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था। उनके द्वारा स्थापित चतुर्विध संग में मुनि-संघ और श्रावक-संघ के साथ-साथ आर्यिका-संघ और श्राविका-संघ भी थे।

अनेक विरोधी विद्वान भी उनके उपदेशों से प्रभावित होकर अपनी परम्पराओं को त्याग उनके शिष्य बने। प्रमुख विरोधी विद्वान इन्द्रभूति गौतम तो उनके प्रमुख शिष्यों में से थे। वे ही उनके प्रथम गणधर बने; जो कि गौतम स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हैं। सुधर्म स्वामी आदि और भी उनके गणधर थे। श्रावक शिष्यों में मगध सम्राट महाराजा श्रेणिक (बिम्बसार) प्रमुख थे।

लगातार तीस वर्ष तक सारे भारतवर्ष में उनका विहार होता रहा। उनका उपदेश जन-भाषा में होता था। उनके उपदेश को दिव्यध्वनि कहा जाता है। उन्होंने अपनी दिव्यवाणी में पूर्णरूप से आत्मा की स्वतन्त्रता की घोषणा की।

उनका कहना था कि प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है, कोई किसी के आधीन नहीं है। पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने का मार्ग स्वावलंबन है। अपने बल पर ही स्वतन्त्रता प्राप्त की जा सकती है। अनन्त सुख और स्वतन्त्रता भीख में प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है, और न उसे दूसरों के बल पर ही प्राप्त किया जा सकता है।

सब आत्माएँ स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं; पर वे एक-सी अवश्य हैं; बराबर हैं, कोई छोटी-बड़ी नहीं। अतः उन्होंने कहा –

(१) अपने समान दूसरी आत्माओं को जानो।

(२) सब आत्माएँ समान हैं, पर एक नहीं।

(३) यदि सही दिशा में पुरुषार्थ करे तो प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकता है।

(४) प्रत्येक प्राणी अपनी भूल से स्वयं दुःखी है और अपनी भूल सुधार कर सुखी भी हो सकता है।

भगवान महावीर ने जो कहा, वह कोई नया सत्य नहीं था। सत्य में नये-पुराने का भेद कैसा ? उन्होंने जो कहा वह सदा से है, सनातन है। उन्होंने सत्य की स्थापना नहीं, सत्य का उद्घाटन किया। उन्होंने कोई नया धर्म स्थापित नहीं किया। उन्होंने धर्म को नहीं, धर्म में खोई आस्था को स्थापित किया। धर्म वस्तु के स्वभाव को कहते हैं। वस्तु का स्वभाव बनाया नहीं जा सकता। जो बनाया जा सके, वह स्वभाव कैसा ? वह तो जाना जाता है।

कर्त्तृत्व के अहंकार एवं अपनत्व के ममकार से दूर रह कर जो स्व और पर को समग्र रूप से जान सके, महावीर के अनुसार वही भगवान है। भगवान जगत का तटस्थ ज्ञाता-दृष्टा होता है, कर्त्ता-धर्ता नहीं। जो समस्त जगत को जानकर उससे पूर्ण अलिप्त वीतराग रह सके अथवा पूर्ण रूप से अप्रभावित रहकर जान सके, वही भगवान है। तीर्थंकर भगवान वस्तुस्वरूप को जानते हैं, बताते हैं; बनाते नहीं।

वे तीर्थंकर थे, उन्होंने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया। उन्होंने जो उपदेश दिया उसे आचार्य समन्तभद्र ने सर्वोदय तीर्थ कहा है –

(उपजाति)

सर्वान्तवत् तद्गुणमुख्यकल्पम्, सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तम्, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ।।[१]

---

१. युक्त्यनुशासन, श्लोक ६२

हे भगवान महावीर ! आपका सर्वोदय तीर्थ सापेक्ष होने से सर्व धर्मों[१] को लिए हुए है। इसमें मुख्य और गौण की विवक्षा से कथन है; अतः कोई विरोध नहीं आता; किन्तु अन्य वादियों के कथन निरपेक्ष होने से सम्पूर्णतः वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करने में असमर्थ हैं। आपका शासन (तत्त्वोपदेश) सर्व आपदाओं का अन्त करने और समस्त संसारी प्राणियों को संसार-सागर से पार करने में समर्थ है; अतः सर्वोदय तीर्थ है।

भगवान महावीर का सर्वोदय, वर्गोदय के विरुद्ध एक वैचारिक क्रांति है। जिसमें सब का उदय हो वही सर्वोदय है। वे मानव मात्र का ही नहीं, प्राणीमात्र का उदय चाहते थे। धर्म के सर्वोदय स्वरूप का तात्पर्य सर्व जीव समभाव और सर्व जाति समभाव से है। सब जीवों की उन्नति के समान अवसरों की उपलब्धि ही सर्वोदय है।

दूसरों का बुरा चाहकर कोई अपना भला नहीं कर सकता है। सामाजिक जीवन में विषमता रहते कभी कोई वर्ग सुखी और शान्त नहीं रह सकता। यह कदापि नहीं चल सकता कि एक ओर तो असीम भोग-सामग्री सहज ही उपलब्ध हो और दूसरी ओर श्रम करते हुए भी जीवनयापन के लिए आवश्यक वस्तुएँ भी उपलब्ध न हो सकें।

उसके लिए भगवान महावीर ने अपरिग्रह और अल्पपरिग्रह की व्यवस्था को उपादेय कहा, पर उक्त व्यवस्था की स्थापना अहिंसात्मक ढंग से ही होनी चाहिए।

भगवान महावीर ने अहिंसा को परम धर्म घोषित किया है। सामाजिक जीवन में विषमता रहते अहिंसा नहीं पनप सकती। अतः अहिंसा के सामाजिक प्रयोग के लिए जीवन में समन्वय-वृत्ति,

१. सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध, एक-अनेक आदि

सह-अस्तित्व की भावना एवं सहिष्णुता अति आवश्यक है।

महावीर ने जनसाधारण में संभावित शारीरिक हिंसा को कम करने के लिए सह-अस्तित्व, सहिष्णुता और समताभाव पर जोर दिया, तो वैचारिक हिंसा से बचने के लिए अनेकान्त का समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रदान किया।

महावीर की अहिंसा के अनेक रूप हैं। अनेकान्त, स्याद्वाद और अपरिग्रह अहिंसा के ही रूपान्तर हैं। अहिंसा की ही दिव्य-ज्योति विचार के क्षेत्र में अनेकान्त, वचन-व्यवहार के क्षेत्र में स्याद्वाद और सामाजिक तथा आत्मशान्ति के क्षेत्र में अल्प-परिग्रह या अपरिग्रह के रूप में प्रकट होती है।

भगवान महावीर ने सदा ही अहिंसात्मक आचरण पर जोर दिया है। जैन आचरण छूआछूत-मूलक न होकर, जिसमें हिंसा न हो या कम से कम हिंसा हो, के आधार पर निश्चित होता है। पानी छान कर पीना, रात्रि-भोजन नहीं करना, मद्य-मांस का सेवन नहीं करना आदि समस्त आचरण, अहिंसा को लक्ष्य में रखकर ही अपनाये गये हैं।

हिंसा और अहिंसा की जैसी सूक्ष्म व्याख्या भगवान महावीर ने की है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। वे कहते हैं :–

(आर्या)

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिः हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।।[१]

आत्मा में मोह-राग-द्वेष भावों की उत्पत्ति नहीं होना अहिंसा है और उनकी उत्पत्ति होना ही हिंसा है। यही जिनागम का सार है।

---

१. आचार्य अमृतचन्द्र : पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ४४

आत्म-शुद्धि के लिए मोह-राग-द्वेष रूप भावहिंसा का त्याग आवश्यक है।

महावीर ने जन्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया। वे योग्यता-मूलक समाज-व्यवस्था में विश्वास रखते थे; क्योंकि व्यक्ति की ऊँचाई का आधार उसकी योग्यता और आचार-विचार है, न कि जन्म। जन्म से ही छोटे-बड़े का भेद करना भी हिंसात्मक आचरण है।

आज हमने मानव-मानव के बीच अनेक दीवारें खड़ी करली हैं। ये दीवारें प्राकृतिक न होकर हमारे द्वारा ही खड़ी की गई हैं। ये दीवारें रंग-भेद, वर्ण-भेद, जाति-भेद, कुल-भेद, देश व प्रान्त-भेद आदि की हैं।

यही कारण है कि आज सारे विश्व में एक तनाव का वातावरण है। एक देश दूसरे देश से शंकित है और एक प्रान्त दूसरे प्रान्त से। यहाँ तक कि मानव मानव की ही नहीं, एक प्राणी दूसरे प्राणी की इच्छा और आकांक्षाओं को अविश्वास की दृष्टि से देखता है। भले ही वे परस्पर एक दूसरे से पूर्णतः असंपृक्त ही क्यों न हों, पर एक दूसरे के लक्ष्य से एक विशेष प्रकार का तनाव लेकर जी रहे हैं। तनाव से सारे विश्व का वातावरण एक घुटन का वातावरण बन रहा है।

वास्तविक धर्म वह है जो इस तनाव को व घुटन को समाप्त करे या कम करे। तनावों से वातावरण विषाक्त बनता है और विषाक्त वातावरण मानसिक शान्ति भंग कर देता है।

तीर्थंकर महावीर की पूर्वकालीन एवं समकालीन परिस्थिति भी सब कुछ मिलाकर इसी प्रकार की थी।

तीर्थंकर महावीर के मानस में आत्मकल्याण के साथ-साथ विश्वकल्याण की प्रेरणा भी थी और उसी प्रेरणा ने उन्हें तीर्थंकर बनाया। उनका सर्वोदय तीर्थ आज भी उतना ही ग्राह्य, ताजा और

प्रेरणाप्रद है – जितना उनके समय में था। उनके तीर्थ में न संकीर्णता थी और न मानवकृत सीमाएँ। जीवन की जिस धारा को वे मानव के लिए प्रवाहित करना चाहते थे, वही वस्तुतः सनातन सत्य है।

धार्मिक जड़ता और आर्थिक अपव्यय रोकने के लिए महावीर ने क्रियाकाण्ड और यज्ञों का विरोध किया। आदमी को आदमी के निकट लाने के लिए वर्ण-व्यवस्था को कर्म के आधार पर बताया। जीवन के जीने के लिए अनेकान्त की भावभूमि, स्याद्वाद की भाषा और अणुव्रत का आचार-व्यवहार दिया और मानव-व्यक्तित्व के चरम विकास के लिए कहा कि ईश्वर तुम्हीं हो, अपने आप को पहिचानो और ईश्वरीय गुणों का विकास कर ईश्वरत्व को पाओ।

तीर्थंकर महावीर ने जिस सर्वोदय तीर्थ का प्रणयन किया, उसके जिस धर्मतत्त्व को लोक के सामने रखा; उसमें न जाति की सीमा है, न क्षेत्र की और न काल की; न रंग, वर्ण, लिंग आदि की। धर्म में संकीर्णता और सीमा नहीं होती।

आत्मधर्म सभी आत्माओं के लिए है और धर्म को मात्र मानव से जोड़ना भी एक प्रकार की संकीर्णता है, वह तो प्राणीमात्र का धर्म है। 'मानवधर्म' शब्द भी पूर्ण उदारता का सूचक नहीं है। वह भी धर्म के क्षेत्र को मानव समाज तक ही सीमित करता है; जब कि धर्म का सम्बन्ध समस्त प्राणी जगत से है; क्योंकि सभी प्राणी सुख और शान्ति से रहना चाहते हैं।

धर्म का सर्वोदय स्वरूप तब तक प्राप्त नहीं हो सकता; जब तक कि आग्रह समाप्त नहीं हो जाता; क्योंकि आग्रह विग्रह को जन्म देता है, प्राणी को असहिष्णु बना देता है।

धार्मिक असहिष्णुता से भी विश्व में बहुत कलह व रक्तपात

हुआ है, इतिहास इसका साक्षी है। जब-जब धार्मिक आग्रह सहिष्णुता की सीमा को लांघ जाता है; तब-तब वह अपने प्रचार व प्रसार के लिए हिंसा का आश्रय लेने लगता है।

धर्म का यह दुर्भाग्य ही कहा जायगा कि उसके नाम पर रक्तपात हुए और वह भी उक्त रक्तपात के कारण विश्व में घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा।

इसप्रकार जिस धर्मतत्त्व के प्रचार के लिए हिंसा अपनाई गई, वही हिंसा उसके ह्रास का कारण बनी।

किसी का मन तलवार की धार से नहीं पलटा जा सकता। अज्ञान ज्ञान से कटता है, उसे हमने तलवार से काटने का यत्न किया। विश्व में नास्तिकता के प्रचार में इसका बहुत बड़ा हाथ है।

भगवान महावीर ने उक्त तथ्य को भली प्रकार समझा था। अतः उन्होंने साध्य की पवित्रता के साथ-साथ साधन की पवित्रता पर भी पूरा-पूरा जोर दिया।

अनेकान्तात्मक विचार, स्याद्वादरूप वाणी, अहिंसात्मक आचार एवं अपरिग्रही जीवन—ये चार महान सिद्धान्त तीर्थंकर महावीर की धार्मिक सहिष्णुता के प्रबल प्रमाण हैं।

सहिष्णुता के बिना सह-अस्तित्व संभव नहीं है; क्योंकि संसार में अनन्त प्राणी हैं और उन्हें इस लोक में साथ-साथ ही रहना है। यदि हम सब ने एक-दूसरे के अस्तित्व को चुनौती दिये बिना रहना नहीं सीखा तो हमें निरन्तर अस्तित्व के संघर्ष में जुटे रहना होगा। संघर्ष अशान्ति का कारण है और उसमें हिंसा अनिवार्य है। हिंसा प्रतिहिंसा को जन्म देती है। इसप्रकार हिंसा-प्रतिहिंसा का कभी समाप्त न होने वाला चक्र चलता रहता है।

यदि हम शान्ति से रहना चाहते हैं तो हमें दूसरों के अस्तित्व के प्रति

सहनशील बनना होगा। सहनशीलता सहिष्णुता का ही पर्याय है।

तीर्थंकर भगवान महावीर ने प्रत्येक वस्तु की पूर्ण स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की है और यह भी स्पष्ट किया है कि प्रत्येक वस्तु स्वयं परिणमनशील है। उसके परिणमन में पर-पदार्थ का कोई हस्तक्षेप नहीं है। यहां तक कि परमपिता परमेश्वर (भगवान्) भी उसकी सत्ता का कर्त्ता-हर्ता नहीं है।

जन-जन की ही नहीं, अपितु कण-कण की स्वतंत्र सत्ता की उद्घोषणा तीर्थंकर महावीर की वाणी में हुई। दूसरों के परिणमन या कार्य में हस्तक्षेप करने की भावना ही मिथ्या, निष्फल और दुःख का कारण है; क्योंकि सब जीवों का जीवन-मरण, सुख-दुःख स्वयंकृत व स्वयंकृत कर्म का फल है। एक को दूसरे के दुःख-सुख, जीवन-मरण का कर्त्ता मानना अज्ञान है।

सो ही कहा है –

(वसन्ततिलका)

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय–
कर्मोदयान्मरणजीवित दुःख सौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तुः परः परस्य,
कुर्यात्पुमान्मरण जीवित दुःख सौख्यम्।।[१]

(हरिगीत)

जीवन-मरण अर दुक्ख-सुख सब प्राणियों के सदा ही।
अपने कर्म के उदय के अनुसार ही हों नियम से।।
करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुक्ख-सुख।
विविध भूलों से भरी यह मान्यता अज्ञान है।।

---

१. आचार्य अमृतचन्द्र : समयसार कलश, १६८

यदि एक प्राणी को दूसरे के दुःख-सुख और जीवन-मरण का कर्त्ता माना जाय तो फिर स्वयंकृत शुभाशुभ कर्म निष्फल साबित होंगे; क्योंकि प्रश्न यह है कि हम बुरे कर्म करें और कोई दूसरा व्यक्ति, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, क्या वह हमें सुखी कर सकता है ? इसीप्रकार हम अच्छे कार्य करें और कोई व्यक्ति, चाहे वह ईश्वर ही क्यों न हो, क्या हमारा बुरा कर सकता है ?

यदि हाँ, तो फिर अच्छे कार्य करना और बुरे कार्यों से डरना व्यर्थ है; क्योंकि उनके फल को भोगना तो आवश्यक है नहीं ? और यदि यह सही है कि हमें अपने अच्छे बुरे कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा तो फिर पर के हस्तक्षेप की कल्पना निरर्थक है। इसी बात को अमितगति आचार्य ने इसप्रकार व्यक्त किया है –

(द्रुतविलंबित)

स्वयं कृतः कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते-शुभाशुभं।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा।।
निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कोपि कस्यापि ददातिकिंचन।
विचारयन्नेवमनन्य मानसः, परो ददातीति विमुच्य शेमुषीं।।[१]

(वीर)

स्वयं किये जो कम शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते।
करे आप फल देय अन्य तो, स्वयं किये निष्फल होते।।
अपने कर्म सिवाय जीव को, कोई न फल देता कुछ भी।
'पर देता है' यह विचार तज, स्थिर हो छोड़ प्रमादी बुद्धि।।

अतः सिद्ध है कि किसी भी द्रव्य में पर का हस्तक्षेप नहीं

---

१. भावना द्वात्रिंशतिका (सामायिक पाठ), छंद ३०-३१

चलता। हस्तक्षेप की भावना ही आक्रमण को प्रोत्साहित करती है। यदि हम अपने मन से पर में हस्तक्षेप करने की भावना निकाल दें तो फिर हमारे मानस में सहज ही अनाक्रमण का भाव जाग जायगा। आक्रमण प्रत्याक्रमण को जन्म देता है, यह आक्रमण-प्रत्याक्रमण की स्थिति एक ऐसे युद्ध को प्रोत्साहित कर सकती है जिससे मात्र विश्वशान्ति ही खतरे में न पड़ जाय, अपितु विश्व-प्रलय की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। अतः विश्व-शान्ति की कामना करने वालों को तीर्थंकर महावीर द्वारा बताये गये अहस्तक्षेप, अनाक्रमण, और सह-अस्तित्व के मार्ग पर चलना आवश्यक है। इसमें ही सब का हित निहित है।

उन्होंने व्यक्ति-स्वातंत्र्य और विचारों की स्वतंत्रता पर सर्वत्र जोर दिया है। वे अपने पीछे अन्धविश्वासियों की भीड़ इकट्ठी कर पोपडम का प्रचार नहीं करना चाहते थे। उन्होंने तो विचारकों को चिन्तन की नई दिशा दी है। उन्होंने स्पष्ट कहा –

"जो मैं कहता हूँ, उसे तर्क की कसौटी पर कसकर और अनुभूति से आत्मसात् करके ही स्वीकार करो, अन्यथा यह सत्य तुम्हारा न बन पायेगा। आगम-प्रमाणरूप चाबुक की मार से, तर्कों के प्रबल प्रहार से और मेरे अद्‌भुत व्यक्तित्व के प्रभाव से जो मैंने कहा उसे यदि ऊपर से स्वीकार भी कर लिया तो कोई लाभ नहीं होगा। वह तो एक नये अन्धविश्वास और पोपडम को ही जन्म देगा।"

स्वतंत्रता के साथ-साथ समानता का सिद्धान्त भी उन्होंने प्रतिपादित किया। एकता का आधार समानता ही हो सकती है। उन्होंने 'हम एक हैं' का नारा न देकर 'हम सब एकसे हैं' का नारा दिया। 'हम सब एक हैं' में व्यक्ति-स्वातंत्र्य का अभाव हो जाता है,

वहाँ 'हम सब एकसे हैं' में व्यक्ति-स्वातंत्र्य के साथ ही समानता के आधार पर एकता भी स्थापित होती है, जो कि वस्तुस्वभाव और मानव-मनोविज्ञान के अति निकट है।

इसप्रकार उनका उपदेश सार्वभौमिक और विश्व-शान्ति की ओर ले जाने वाला है।

यदि आज महावीर के सर्वोदयी अनेकान्तात्मक विचार, सब पक्षों को अपने में समाहित कर लेने वाली स्याद्वाद वाणी, अहिंसायुक्त आचरण और अल्प-संग्रह से युक्त जीवनवृत्ति हमारे सामाजिक जीवन का आधार व अंग बन जाए तो हमारी बहुत कुछ समस्याएँ सहज सुलझ सकती हैं। हम आत्म-शान्ति के साथ-साथ विश्व-शान्ति की दिशा में भी सहज ही अग्रसर हो सकते हैं।

अन्त में ७२ वर्ष की आयु में दीपावली के दिन इस युग के अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने भौतिक देह को त्याग कर निर्वाण प्राप्त किया। उसी दिन उनके प्रथम शिष्य इन्द्रभूति गौतम को पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हुई। जैन मान्यतानुसार दीपावली महापर्व भगवान महावीर के निर्वाण एवं उनके प्रमुख शिष्य गौतम को पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के उपलक्ष्य में ही मनाया जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि भगवान महावीर का जीवन नर से नारायण बनने एवं आत्मा के क्रमिक पूर्ण विकास की कहानी है।

❋❋❋